मेरा छोटा-सा निजी पुस्तकालय

धर्मवीर भारती

जुलाई 1989 । बचने की कोई उम्मीद नहीं थी। तीन-तीन ज़बरदस्त हार्ट-अटैक, एक के बाद एक। एक तो ऐसा कि नब्ज़ बंद, साँस बंद, धड़कन बंद। डॉक्टरों ने घोषित कर दिया कि अब प्राण नहीं रहे। पर डॉक्टर बोर्जेस ने फिर भी हिम्मत नहीं हारी थी। उन्होंने नौ सौ वॉल्ट्स के शॉक्स (Shocks) दिए। भयानक प्रयोग। लेकिन वे बोले कि यदि यह मृत शरीर मात्र है तो दर्द महसूस ही नहीं होगा, पर यदि कहीं भी ज़रा भी एक कण प्राण शेष होंगे तो हार्ट रिवाइव (Revive) कर सकता है। प्राण तो लौटे, पर इस प्रयोग में साठ प्रतिशत हार्ट सदा के लिए नष्ट हो गया। केवल चालीस प्रतिशत बचा। उसमें भी तीन अवरोध[1] (Blockage) हैं। ओपेन हार्ट ऑपरेशन तो करना ही होगा पर सर्जन हिचक रहे हैं। केवल चालीस प्रतिशत हार्ट है। ऑपरेशन के बाद न रिवाइव हुआ तो? तय हुआ कि अन्य विशेषज्ञों की राय ले ली जाए, तब कुछ दिन बाद ऑपरेशन की सोचेंगे। तब तक घर जाकर बिना हिले-डुले विश्राम करें।

बहरहाल, ऐसी अर्द्धमृत्यु[2] की हालत में वापस घर लाया जाता हूँ। मेरी ज़िद है कि बेडरूम में नहीं, मुझे अपने किताबों वाले कमरे में ही रखा जाए। वहीं लिटा दिया गया है मुझे। चलना, बोलना, पढ़ना मना। दिन-भर पड़े-पड़े दो ही चीज़ें देखता

1. रुकावट 2. अधमरा

© NCERT not to be republished

© NCERT not to be republished

रहता हूँ, बाईं ओर की खिड़की के सामने रह-रहकर हवा में झूलते सुपारी के पेड़ के झालरदार पत्ते और अंदर कमरे में चारों ओर फ़र्श से लेकर छत तक ऊँची, किताबों से ठसाठस भरी अलमारियाँ। बचपन में परी कथाओं (Fairy tales) में जैसे पढ़ते थे कि राजा के प्राण उसके शरीर में नहीं, तोते में रहते हैं, वैसे ही लगता था कि मेरे प्राण इस शरीर से तो निकल चुके हैं, वे प्राण इन हज़ारों किताबों में बसे हैं जो पिछले चालीस-पचास बरस में धीरे-धीरे मेरे पास जमा होती गई हैं।

कैसे जमा हुईं, संकलन की शुरुआत कैसे हुई, यह कथा बाद में सुनाऊँगा। पहले तो यह बताना ज़रूरी है कि किताबें पढ़ने और सहेजने का शौक कैसे जागा। बचपन की बात है। उस समय आर्य समाज का सुधारवादी आंदोलन अपने पूरे ज़ोर पर था। मेरे पिता आर्य समाज रानीमंडी के प्रधान थे और माँ ने स्त्री-शिक्षा के लिए आदर्श कन्या पाठशाला की स्थापना की थी।

पिता की अच्छी-खासी सरकारी नौकरी थी। बर्मा रोड जब बन रही थी तब बहुत कमाया था उन्होंने। लेकिन मेरे जन्म के पहले ही गांधी जी के आह्वान पर उन्होंने सरकारी नौकरी छोड़ दी थी। हम लोग बड़े आर्थिक[1] कष्टों से गुज़र रहे थे, फिर भी घर में नियमित पत्र-पत्रिकाएँ आती थीं–'आर्यमित्र साप्ताहिक', 'वेदोदम', 'सरस्वती', 'गृहिणी' और दो बाल पत्रिकाएँ खास मेरे लिए–'बालसखा' और 'चमचम'। उनमें होती थी परियों, राजकुमारों, दानवों और सुंदरी राजकन्याओं की कहानियाँ और रेखाचित्र। मुझे पढ़ने की चाट लग गई। हर समय पढ़ता रहता। खाना खाते समय थाली के पास पत्रिकाएँ रखकर पढ़ता। अपनी दोनों पत्रिकाओं के अलावा भी 'सरस्वती' और 'आर्यमित्र' पढ़ने की कोशिश करता। घर में पुस्तकें भी थीं। उपनिषदें और उनके हिंदी अनुवाद, 'सत्यार्थ प्रकाश'। 'सत्यार्थ प्रकाश' के खंडन-मंडन वाले अध्याय पूरी तरह समझ तो नहीं पाता था, पर पढ़ने में मज़ा आता था। मेरी प्रिय पुस्तक थी स्वामी दयानंद की एक जीवनी, रोचक[2] शैली में लिखी हुई, अनेक चित्रों से सुसज्जित। वे तत्कालीन पाखंडों[3] के विरुद्ध अदम्य[4] साहस

1. रुपये-पैसे संबंधी 2. मनोरंजक 3. दिखावटी, ढकोसला 4. जिसे दबाया न जा सके

© NCERT not to be republished

दिखाने वाले अद्‌भुत व्यक्तित्व थे। कितनी ही रोमांचक घटनाएँ थीं उनके जीवन की जो मुझे बहुत प्रभावित करती थीं। चूहे को भगवान का भोग खाते देखकर मान लेना कि प्रतिमाएँ भगवान नहीं होतीं, घर छोड़कर भाग जाना, तमाम तीर्थों, जंगलों, गुफाओं, हिमशिखरों पर साधुओं के बीच घूमना और हर जगह इसकी तलाश करना कि भगवान क्या है? सत्य क्या है? जो भी समाज-विरोधी, मनुष्य-विरोधी मूल्य हैं, रूढ़ियाँ[1] हैं, उनका खंडन करना और अंत में अपने से हारे को क्षमा कर उसे सहारा देना। यह सब मेरे बालमन को बहुत रोमांचित[2] करता। जब इस सबसे थक जाता तब फिर 'बालसखा' और 'चमचम' की पहले पढ़ी हुई कथाएँ दुबारा पढ़ता।

माँ स्कूली पढ़ाई पर ज़ोर देतीं। चिंतित रहतीं कि लड़का कक्षा की किताबें नहीं पढ़ता। पास कैसे होगा! कहीं खुद साधु बनकर घर से भाग गया तो? पिता कहते– जीवन में यही पढ़ाई काम आएगी, पढ़ने दो। मैं स्कूल नहीं भेजा गया था, शुरू की पढ़ाई के लिए घर पर मास्टर रखे गए थे। पिता नहीं चाहते थे कि नासमझ उम्र में मैं गलत संगति में पड़कर गाली-गलौज सीखूँ, बुरे संस्कार ग्रहण करूँ अतः मेरा नाम लिखाया गया, जब मैं कक्षा दो तक की पढ़ाई घर पर कर चुका था। तीसरे दर्जे में मैं भरती हुआ। उस दिन शाम को पिता उँगली पकड़कर मुझे घुमाने ले गए। लोकनाथ की एक दुकान ताज़ा अनार का शरबत मिट्टी के कुल्हड़ में पिलाया और सिर पर हाथ रखकर बोले–"वायदा करो कि पाठ्यक्रम की किताबें भी इतने ही ध्यान से पढ़ोगे, माँ की चिंता मिटाओगे।" उनका आशीर्वाद था या मेरा जी-तोड़ परिश्रम कि तीसरे, चौथे में मेरे अच्छे नंबर आए और पाँचवें में तो मैं फर्स्ट आया। माँ ने आँसू भरकर गले लगा लिया, पिता मुसकुराते रहे, कुछ बोले नहीं। चूँकि अंग्रेज़ी में मेरे नंबर सबसे ज़्यादा थे, अतः स्कूल से इनाम में दो अंग्रेज़ी किताबें मिली थीं। एक में दो छोटे बच्चे घोंसलों की खोज में बागों और कुंजों में भटकते हैं और इस बहाने पक्षियों की जातियों, उनकी बोलियों, उनकी आदतों की जानकारी उन्हें मिलती है। दूसरी किताब थी 'ट्रस्टी द रग' जिसमें पानी के जहाजों की कथाएँ थीं–कितने प्रकार के होते हैं, कौन-कौन-सा माल लादकर लाते हैं, कहाँ से लाते हैं,

1. प्रथा 2. पुलकित

कहाँ ले जाते हैं, नाविकों की ज़िंदगी कैसी होती है, कैसे-कैसे द्वीप[1] मिलते हैं, कहाँ ह्वेल होती है, कहाँ शार्क होती है।

इन दो किताबों ने एक नयी दुनिया का द्वार मेरे लिए खोल दिया। पक्षियों से भरा आकाश और रहस्यों से भरा समुद्र। पिता ने अलमारी के एक खाने से अपनी चीज़ें हटाकर जगह बनाई और मेरी दोनों किताबें उस खाने में रखकर कहा–"आज से यह खाना तुम्हारी अपनी किताबों का। यह तुम्हारी अपनी लाइब्रेरी है।"

यहाँ से आरंभ हुई उस बच्चे की लाइब्रेरी। बच्चा किशोर हुआ, स्कूल से कॉलेज, कॉलेज से युनिवर्सिटी गया, डॉक्टरेट हासिल की, युनिवर्सिटी में अध्यापन किया, अध्यापन छोड़कर इलाहाबाद से बंबई आया, संपादन किया। उसी अनुपात में अपनी लाइब्रेरी का विस्तार करता गया।

पर आप पूछ सकते हैं कि किताबें पढ़ने का शौक तो ठीक, किताबें इकट्ठी करने की सनक क्यों सवार हुई? उसका कारण भी बचपन का एक अनुभव है। इलाहाबाद भारत के प्रख्यात[2] शिक्षा-केंद्रों में एक रहा है। ईस्ट इंडिया द्वारा स्थापित पब्लिक लाइब्रेरी से लेकर महामना मदनमोहन मालवीय द्वारा स्थापित भारती भवन तक। विश्वविद्यालय की लाइब्रेरी तथा अनेक कॉलेजों की लाइब्रेरियाँ तो हैं ही, लगभग हर मुहल्ले में एक अलग लाइब्रेरी। वहाँ हाईकोर्ट है, अत: वकीलों की निजी लाइब्रेरियाँ, अध्यापकों की निजी लाइब्रेरियाँ। अपनी लाइब्रेरी वैसी कभी होगी, यह तो स्वप्न में भी नहीं सोच सकता था, पर अपने मुहल्ले में एक लाइब्रेरी थी–'हरि भवन'। स्कूल से छुट्टी मिली कि मैं उसमें जाकर जम जाता था। पिता दिवंगत हो चुके थे, लाइब्रेरी का चंदा चुकाने का पैसा नहीं था, अत: वहीं बैठकर किताबें निकलवाकर पढ़ता रहता था। उन दिनों हिंदी में विश्व साहित्य विशेषकर उपन्यासों के खूब अनुवाद हो रहे थे। मुझे उन अनूदित उपन्यासों को पढ़कर बड़ा सुख मिलता था। अपने छोटे-से 'हरि भवन' में खूब उपन्यास थे। वहीं परिचय हुआ बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय की 'दुर्गेशनंदिनी', 'कपाल कुण्डला' और 'आनंदमठ' से टालस्टाय की

1. वह भूभाग जिसके चारों ओर पानी हो 2. प्रसिद्ध

'अन्ना करेनिना', विक्टर ह्यूगो का 'पेरिस का कुबड़ा' (हंचबैक ऑफ़ नात्रेदाम), गोर्की की 'मदर', अलेक्जंडर कुप्रिन का 'गाड़ीवालों का कटरा' (यामा द पिट) और सबसे मनोरंजक सर्वा-रीज़ का 'विचित्र वीर' (यानी डॉन क्विक्ज़ोट)। हिंदी के ही माध्यम से सारी दुनिया के कथा-पात्रों से मुलाकात करना कितना आकर्षक था! लाइब्रेरी खुलते ही पहुँच जाता और जब शुक्ल जी लाइब्रेरियन कहते कि बच्चा, अब उठो, पुस्तकालय बंद करना है, तब बड़ी अनिच्छा[1] से उठता। जिस दिन कोई उपन्यास अधूरा छूट जाता, उस दिन मन में कसक[2] होती कि काश, इतने पैसे होते कि सदस्य बनकर किताब इश्यू करा लाता, या काश, इस किताब को खरीद पाता तो घर में रखता, एक बार पढ़ता, दो बार पढ़ता, बार-बार पढ़ता पर जानता था कि यह सपना ही रहेगा, भला कैसे पूरा हो पाएगा!

पिता के देहावसान के बाद तो आर्थिक संकट इतना बढ़ गया कि पूछिए मत। फीस जुटाना तक मुश्किल था। अपने शौक की किताबें खरीदना तो संभव ही नहीं था। एक ट्रस्ट से योग्य पर असहाय छात्रों को पाठ्यपुस्तकें खरीदने के लिए कुछ रुपये सत्र के आरंभ में मिलते थे। उनसे प्रमुख पाठ्यपुस्तकें 'सेकंड-हैंड' खरीदता था, बाकी अपने सहपाठियों से लेकर पढ़ता और नोट्स बना लेता। उन दिनों परीक्षा के बाद छात्र अपनी पुरानी पाठ्यपुस्तकें आधे दाम में बेच देते और उसमें आने वाले नए लेकिन उसे विपन्न[3] छात्र खरीद लेते। इसी तरह काम चलता।

लेकिन फिर भी मैंने जीवन की पहली साहित्यिक पुस्तक अपने पैसों से कैसे खरीदी, यह आज तक याद है। उस साल इंटरमीडिएट पास किया था। पुरानी पाठ्यपुस्तकें बेचकर बी.ए. की पाठ्यपुस्तकें लेने एक सेकंड-हैंड बुकशॉप पर गया। उस बार जाने कैसे पाठ्यपुस्तकें खरीदकर भी दो रुपये बच गए थे। सामने के सिनेमाघर में 'देवदास' लगा था। न्यू थिएटर्स वाला। बहुत चर्चा थी उसकी। लेकिन मेरी माँ को सिनेमा देखना बिलकुल नापसंद था। उसी से बच्चे बिगड़ते हैं। लेकिन उसके गाने सिनेमागृह के बाहर बजते थे। उसमें सहगल का एक गाना था-'दुख के

1. बेमन से, इच्छा न होते हुए भी 2. पीड़ा 3. गरीब

दिन अब बीतत नाहीं'। उसे अकसर गुनगुनाता रहता था। कभी-कभी गुनगुनाते आँखों में आँसू आ जाते थे जाने क्यों! एक दिन माँ ने सुना। माँ का दिल तो आखिर माँ का दिल! एक दिन बोली—"दुख के दिन बीत जाएँगे बेटा, दिल इतना छोटा क्यों करता है? धीरज से काम ले!" जब उन्हें मालूम हुआ कि यह तो फिल्म 'देवदास' का गाना है, तो सिनेमा की घोर विरोधी माँ ने कहा—"अपना मन क्यों मारता है, जाकर पिक्चर देख आ। पैसे मैं दे दूँगी।" मैंने माँ को बताया कि "किताबें बेचकर दो रुपये मेरे पास बचे हैं।" वे दो रुपये लेकर माँ की सहमति से फिल्म देखने गया। पहला शो छूटने में देर थी, पास में अपनी परिचित किताब की दुकान थी। वहीं चक्कर लगाने लगा। सहसा देखा, काउंटर पर एक पुस्तक रखी है—'देवदास'। लेखक शरत्चंद्र चट्टोपाध्याय। दाम केवल एक रुपया। मैंने पुस्तक उठाकर उलटी-पलटी। तो पुस्तक-विक्रेता बोला—"तुम विद्यार्थी हो। यहीं अपनी पुरानी किताबें बेचते हो। हमारे पुराने गाहक हो। तुमसे अपना कमीशन नहीं लूँगा। केवल दस आने में यह किताब दे दूँगा"। मेरा मन पलट गया। कौन देखे डेढ़ रुपये में पिक्चर? दस आने में 'देवदास' खरीदी। जल्दी-जल्दी घर लौट आया, और दो रुपये में से बचे एक रुपया छः आना माँ के हाथ में रख दिए।

"अरे तू लौट कैसे आया? पिक्चर नहीं देखी?" माँ ने पूछा।

"नहीं माँ! फिल्म नहीं देखी, यह किताब ले आया देखो।"

माँ की आँखों में आँसू आ गए। खुशी के थे या दुख के, यह नहीं मालूम। वह मेरे अपने पैसों से खरीदी, मेरी अपनी निजी लाइब्रेरी की पहली किताब थी।

आज जब अपने पुस्तक संकलन पर नज़र डालता हूँ जिसमें हिंदी-अंग्रेज़ी के उपन्यास, नाटक, कथा-संकलन, जीवनियाँ, संस्मरण, इतिहास, कला, पुरातत्त्व[1], राजनीति की हज़ारहा[2] पुस्तकें हैं, तब कितनी शिद्दत[3] से याद आती है अपनी वह पहली पुस्तक की खरीदारी! रेनर मारिया रिल्के, स्टीफ़ेन ज़्वीग, मोपाँसा, चेखव,

1. पुरानी बातों और इतिहास के अध्ययन तथा अनुसंधान से संबंध रखने वाली विशेष प्रकार की विद्या 2. हज़ार से अधिक 3. अधिकता, प्रबलता

टालस्टाय, दास्तोवस्की, मायकोवस्की, सोल्जेनिस्टिन, स्टीफेन स्पेण्डर, आडेन एज़रा पाउंड, यूजीन ओ नील, ज्याँ पाल सात्र, ऑल्बेयर कामू, आयोनेस्को के साथ पिकासो, ब्रूगेल, रेम्ब्राँ, हेब्बर, हुसेन तथा हिंदी में कबीर, तुलसी, सूर, रसखान, जायसी, प्रेमचंद, पंत, निराला, महादेवी और जाने कितने लेखकों, चिंतकों की इन कृतियों के बीच अपने को कितना भरा-भरा महसूस करता हूँ।

मराठी के वरिष्ठ[1] कवि विंदा करंदीकर ने कितना सच कहा था उस दिन! मेरा ऑपरेशन सफल होने के बाद वे देखने आये थे, बोले–"भारती, ये सैकड़ों महापुरुष जो पुस्तक-रूप में तुम्हारे चारों ओर विराजमान हैं, इन्हीं के आशीर्वाद से तुम बचे हो। इन्होंने तुम्हें पुनर्जीवन दिया है।" मैंने मन-ही-मन प्रणाम किया विंदा को भी, इन महापुरुषों को भी।

बोध-प्रश्न

1. लेखक का ऑपरेशन करने से सर्जन क्यों हिचक रहे थे?
2. 'किताबों वाले कमरे' में रहने के पीछे लेखक के मन में क्या भावना थी?
3. लेखक के घर कौन-कौन-सी पत्रिकाएँ आती थीं?
4. लेखक को किताबें पढ़ने और सहेजने का शौक कैसे लगा?
5. माँ लेखक की स्कूली पढ़ाई को लेकर क्यों चिंतित रहती थी?
6. स्कूल से इनाम में मिली अंग्रेज़ी की दोनों पुस्तकों ने किस प्रकार लेखक के लिए नयी दुनिया के द्वार खोल दिए?
7. 'आज से यह खाना तुम्हारी अपनी किताबों का। यह तुम्हारी अपनी लाइब्रेरी है'–पिता के इस कथन से लेखक को क्या प्रेरणा मिली?
8. लेखक द्वारा पहली पुस्तक खरीदने की घटना का वर्णन अपने शब्दों में कीजिए।
9. 'इन कृतियों के बीच अपने को कितना भरा-भरा महसूस करता हूँ'–का आशय स्पष्ट कीजिए।

1. बड़ा, पूजनीय

© NCERT not to be republished